

न्यायपालिका का बढ़ता हस्तक्षेप: उचित या अनुचित?



- ✓ सन् 1980 में आपातकाल के बाद न्यायपालिका ने अपने आप को एक ऐसी संस्था में परिवर्तित कर लिया, जो सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक न्याय के आदर्शों की स्थापना के लिए काम करने लगी।
- ✓ न्यायपालिका ने जनहित याचिका की शुरुआत की, जिससे संविधान में जनता से किए गए वायदों को पूरा किया जा सके। इस माध्यम से उसने उन लोगों के लिए न्यायालय के दरवाजे खोल दिए, जो अपने आर्थिक-सामाजिक मसलों के लिए अभी तक उसके दरवाजे नहीं खटखटा पाते थे। फिर धीरे-धीरे न्यायालयों में अवयस्कों के अधिकार, निजता का अधिकार, त्वरित न्याय का अधिकार आदि से जुड़े मामले आने लगे और न्यायालय इन पर विचार करने को बाध्य थे, क्योंकि समाज के कमजोर वर्ग को मानवाधिकारों से लैस करने के लिए ऐसा करना आवश्यक था। इस प्रकार जनहित याचिका का क्षेत्र विस्तृत होता गया। जीवन के अधिकार से जुड़े भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 का भी विस्तार हुआ। इसमें शिक्षा, काम और प्रश्रय के अधिकार का समावेश हुआ। न्यायपालिका के विस्तृत होते कार्यक्षेत्र ने धीरे-धीरे आज एक सह-सरकार का रूप ले लिया है। समाज और सरकार से जुड़े हर दूसरे-तीसरे मामले पर आज न्यायालय का हस्तक्षेप एक तरह का प्रतिमान बन गया है। माना कि ऐसा हस्तक्षेप समाज के कमजोर वर्ग के हितों की रक्षा और संविधान की आत्मा की रक्षा हेतु किया जा रहा है, लेकिन यह कितना उचित या अनुचित है ?
- ✓ जिस प्रकार से न्यायालय क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड, राष्ट्रगान या सिक्खों पर चुटकुले संबंधी छोटे-बड़े हर मामले पर सुनवाई करने और आदेश देने लगा है, उसे देखते हुए लगता है कि वह संविधान में किए गए शक्ति के पृथक्करण से आगे बढ़ रहा है। न्यायालय द्वारा छोटे-मोटे महत्वहीन मामलों में दिए जाने वाले आदेशों को देखते हुए जनहित याचिका का दायकों पुराना लक्ष्य नष्ट होता दिखाई दे रहा है। उच्चतम न्यायालय एक प्रकार से देश पर शासन करने का प्रयत्न कर रहा है। वह प्रत्येक विसंगति को सुधारने की कोषिष में है। ऐसा करना न तो उसके अधिकार क्षेत्र में है और न ही वह कर सकता है। उसका मुख्य उद्देश्य तो मानवाधिकार और मौलिक अधिकारों की सुरक्षा होना चाहिए।

- ✓ अभी हाल ही में राष्ट्रीय राजमार्ग से 500 मी, की दूरी तक शराब की दुकानों पर पाबंदी लगाने वाले उच्चतम न्यायालय के आदेश को देखते हुए ऐसा लगता है कि वह अपने उद्देश्य से ही भटक गया है। इस आदेश में न्यायालय ने परिणामों को सोचे बगैर केंद्र सरकार की नीति को एकदम उलटकर रख दिया। न्यायालय ने इस बात की चिंता भी नहीं की इस आदेश से लाखों लोग रातोंरात बेरोज़गार हो जाएंगे। यह आदेश आर्थिक मामलों को समझने में न्यायालय की अक्षमता को प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार आधार विधेयक को धन-विधेयक के रूप में पारित किए जाने की याचिका पर सुनवाई के दौरान उच्चतम न्यायालय का रवैया अनुकूल नहीं लगता। सन् 2015 में तीन न्यायाधीशों की पीठ ने आधार कार्ड के प्रयोग को दो योजनाओं तक सीमित करके इस याचिका पर अंतरिम राहत दे दी थी। आगे बढ़ते हुए पाँच जजों की पीठ ने इसे छः योजनाओं तक सीमित कर दिया। न्यायालय के इस अंतरिम राहत की अवहेलना करते हुए केंद्र सरकार ने लगातार कई उद्देश्यों के लिए आधार कार्ड की अनिवार्यता कर दी। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि न्यायालय की प्राथमिकताएं खत्म होती जा रही हैं, और वह ऐसे मामलों पर अपना समय बर्बाद करने लगा है जो उसके अधिकार-क्षेत्र में नहीं हैं। दुखद स्थिति यह है कि उच्चतम न्यायालय में 60,000 मामलों के लंबित होते हुए भी ऐसा किया जा रहा है।

‘द टाइम्स ऑफ इंडिया’ में प्रकाशित दिल्ली उच्च न्यायालय एवं कानून आयोग के पूर्व चेयरमैन ए.पी. शाह के साक्षात्कार पर आधारित।

